‘कफन’ के दलित पाठ की उलझनें

कविता नन्दन सूर्य

कला उन्ही की मदद करती है जो उसकी मदद मांगते हैं, जो अपने विवेक के संशय, अपने संदेहों और अपने पूर्वग्रहों के साथ उसके पास आते हैं। वह गूंगे के लिए गूंगी है, उसी से बोलती है जो उससे सवाल करते हैं।[1]

– आर्नल्ड हाउजर

पिछले कुछ वर्षों से प्रेमचंद बहसों के केंद्र में हैं। इनमें से कुछ बहसों ने जहां पाठकों/विद्यार्थियों में प्रेमचंद के प्रति रुचि पैदा की है, नए तथ्यों को सामने रखा है और पाठकों का ज्ञानवर्धन किया है, वहीं इस प्रकिया में कुछ नए भ्रम भी फैले हैं। अफसोस की बात यह है कि इन बहसों में तर्क और विश्लेषण से अधिक भावुकता और आक्रोश को जगह मिली है। नतीजतन कई बार ये बहसें प्रेमचंद पर हमले और व्यक्तिगत आक्षेप में बदल गई हैं। प्रतिबद्ध आलोचकों ने बार-बार प्रेमचंद और उनकी रचनाओं पर लगाए जाने वाले आरोपों का विस्तार से सोदाहरण उत्तर दिया है। मुश्किल यह है कि कुछ लोगों द्वारा प्रेमचंद की किसी रचना पर कोई आरोप लगा देना, फिर दूसरे पक्ष द्वारा उसकी सफाई प्रस्तुत करना हिंदी आलोचना में एक ‘प्रवृत्ति’ बनती जा रही है। अभियुक्त की तरह सफाई देने की यह पद्धति असल में मनमाने आरोपों का मुकम्मल जवाब देने की बजाए इस ‘प्रवृत्ति’ को और प्रोत्साहित करने का ही काम कर रही है। यहां न तो मैं प्रेमचंद से संबंधित सारे विवादों का परिचय दूंगा और न ही प्रेमचंद के साहित्य या दलित विमर्श का कोई सांगोपांग विश्लेषण प्रस्तुत करुंगा। इस संक्षिप्त लेख में मैं ‘कफन’ कहानी पर होने वाले विवाद के जरिये उन मूल बिंदुओं की ओर संकेत करुंगा जिनकी उपेक्षा करने पर ही ये सारे विवाद सम्भव होते हैं!

बहुलार्थकता श्रेष्ठ साहित्य की प्रकृति मानी जाती है। हिंदी साहित्य में संभवतः ‘कफन’ ही वह कहानी है जिसे सर्वाधिक व्याख्याओं का गौरव प्राप्त है। लेकिन ‘कफन’ की जिस तरह परस्पर विरोधी व्याख्याएं हुई हैं उससे ‘कफन’ के श्रेष्ठ साहित्य ही नहीं मानवीय साहित्य होने तक पर संदेह उत्पन्न होता है। जहां कुछ आलोचकों ने इसे हिंदी साहित्य की दस श्रेष्ठतम कहानियों में से एक माना है[2] वहीं कुछ आलोचक उसे एक ‘घटिया’ कहानी मानते हैं, जहां कुछ के लिए यह कहानी दलित जीवन का दारूण चित्रण है वहीं कुछ के लिए यह दलित विरोधी कहानी है, जहां कुछ इसे अत्यंत यथार्थवादी कहानी मानते हैं वहीं कुछ के अनुसार यह गलत इरादों से गढ़ी गई एक विशुद्ध काल्पनिक कथा है। विवाद केवल ‘कफन’ पर ही नहीं, प्रेमचंद की संवेदना और उनकी दृष्टि को भी लेकर हैं, लेकिन चूंकि आमतौर पर ‘कफन’ को प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानी माना जाता है[3] इसलिए यदि ‘कफन’ कहानी ही

संवेदना और दृष्टि के लिहाज से अनैतिक ठहरती है, तो फिर यह प्रेमचंद की संवेदना पर ही प्रश्नचिन्ह होगा, सभवतः इसीलिए 'कफन' इस तरह के विवादों के केंद्र में है।

'कफन' पर होने वाले विवादों के आलोक में हम 'कफन' और प्रेमचंद की संवेदना का तो विश्लेषण करेंगे ही, लेकिन इन विवादों के विश्लेषण की सार्थकता केवल 'कफन' कहानी के अर्थ या प्रेमचंद की संवेदना के निर्धारण तक सीमित नहीं है। इस प्रसंग में सवाल केवल यह नहीं है कि 'कफन' का अर्थ क्या है? बल्कि यह भी है कि किसी रचना के 'पाठ' या आलोचना की सही पद्धति क्या है? हाल ही में जिस तरह कुछ आलोचकों ने 'कफन' कहानी के 'टेक्स्ट' से बाहर जाते हुए उसकी आलोचना की है उससे कुछ जटिल सवाल उभरकर सामने आते हैं। यह सही है कि साहित्य और समाज का गहरा संबंध होता है और समाज को समझे बिना किसी साहित्यिक कृति को ठीक-ठीक समझना, उसकी सही व्याख्या करना असम्भव है और इसके लिए साहित्यिक कृति के भीतर ही नहीं, उसके बाहर झांकना भी जरूरी होता है। सवाल यह है कि पाठक या आलोचक को 'टेक्स्ट' की व्याख्या करने के लिए कितनी दूर तक 'टेक्स्ट' के बाहर जाने की छूट होती है। उत्तर संरचनावादियों, विशेषकर रोलां बार्थ ने अकाट्य रूप से सिद्व कर दिया कि 'पाठ' अपने-आप में एक बेजान चीज है, पाठन की प्रक्रिया के दौरान पाठक उसमें अर्थ भरता है, बल्कि एक हद तक किसी रचना को पढ़ते हुए असल में पाठक उसे अपने 'अनुभवों, समझ तथा विचारधारा के' अनुसार दुबारा रचता है। इस प्रक्रिया में हर बार एक नई रचना का जन्म होता है। सवाल यह है कि यह नई रचना कितनी दूर तक पहली रचना पर निर्भर होनी चाहिए, स्वयं मूल 'पाठ' की अपनी कोई वस्तुगत सत्ता, कोई कीमत, कोई वस्तुगत अर्थ भी होता है अथवा वह केवल एक जरिया भर है! संक्षेप में यह कि पाठ की विभिन्न व्याख्याओं, परस्पर विरोधी व्याख्याओं में से सही गलत का फैसला कैसे किया जाए, उनकी प्रामाणिकता का आधार क्या हो? 'कफन' कहानी के संदर्भ में हम इस सैद्वातिक समस्या का उत्तर देने का प्रयास करेंगे।

'कफन' कहानी पर विवाद तो पहले भी थे, लेकिन हाल ही में उसकी दो चौंकाने वाली व्याख्याएं सामने आई हैं। पहली व्याख्या बहुचर्चित 'दलित विचारक' डॉ. धर्मवीर ने *प्रेमचंदः सामन्त का मुंशी* नामक पुस्तक में की है तथा दूसरी व्याख्या प्रसिद्ध नारीवादी लेखिका मैत्रेयी पुष्पा ने एक लगभग गुमनाम से लेख 'आपकी धनिया' में की है। डॉ. धर्मवीर ने दो बातों पर अपनी आपत्ति जताई है, पहली तो यह कि प्रेमचंद कायस्थ यानि सवर्ण हिन्दू थे तो उन्हें सवर्णों पर कहानी लिखनी चाहिए थी, प्रेमचंद ने यह क्यों लिखा कि 'चमारों का कुनबा था और सारे गांव में बदनाम।' और दूसरी आपत्ति यह कि प्रेमचंद अपनी कहानी में वास्तविकता के 'आठ बटा नौ भाग' को अपने 'पेट' में छुपा गए, और वह सच्चाई यह है कि ''बुधिया गांव के जमींदार के लौंडे से गर्भवती थी। उसने बुधिया से खेत में बलात्कार किया था। घीसू और माधव इतना ही विद्रोह कर सके थे कि जमींदार के बच्चे को अपना बच्चा नहीं कहेंगे।''[4] इसलिए जिसे घीसू और माधव की असंवेदनशीलता का नाम दिया जाता है वह असल में उनका विद्रोह है, जिसे प्रेमचंद छुपा गए हैं। घीसू और माधव को यह बर्दाश्त नहीं था कि किसी और का बच्चा उनके सिर पर थोप दिया जाए इसलिए उन्हें इस परम्परा पर रोक लगानी थी, इसके लिए 'चाहे बुधिया मरे और चाहे बुधिया के पेट का बच्चा मरे'।[5] प्रेमचंद चूंकि सामंत और जमींदार के मुंशी थे इसीलिए उन्होंने इस विद्रोह को छुपाते हुए चमारों को बदनाम किया। मैत्रेयी पुष्पा की व्याख्या इतनी उत्तेजक और विस्तृत नहीं है उन्होंने केवल इतनी ही बात जोड़ी है कि माधव कामुक था और उसकी कामुकता ने ही बुधिया की वह दशा की।[6]

'सामंत का मुंशी' की काफी चर्चा हुई है और वीरेन्द्र यादव ने उसकी विस्तृत तर्क संगत आलोचना भी की है।[7] ढेर सारे विद्वानों ने इस बात का उल्लेख किया है कि जिन तथ्यों के आधार पर धर्मवीर ने कहानी की आलोचना की है वे 'कफन' में सिरे से नदारद हैं। सवाल लेकिन यह है कि फिर इस आलोचना को इतनी गम्भीरता से क्यों लिया जा रहा है? सवाल यह भी है कि क्या ऐसी किसी 'बियांड द टेक्स्ट' आलोचना के बाद बाकी आलोचकों का यही दायित्व रह जाता है कि खोज-खोज कर यह सिद्ध करते फिरें की ये तथ्य कहानी में नहीं हैं या इस मर्ज का कोई मुकम्मल सैद्धांतिक इलाज भी होना चाहिए! धर्मवीर या किसी भी व्यक्ति को बतौर पाठक के किसी रचना को मनमाने ढंग से पढ़ने की छूट होती ही है, लेकिन उसके आधार पर मूल 'पाठ' पर कोई मूल्य निर्णय नहीं दिया जा सकता। 'पाठ' की बहुलार्थकता और पाठक की स्वतंत्रता के पक्षधर रोलां बार्थ के लिए जीवनवृत्तात्मक जानकारियों (इस विषय में जाति भी) के जरिये पाठ को व्याख्यायित करने की कोशिश बचकानापन है।[8] जबकि धर्मवीर (तथा ढेर सारे अन्य दलित आलोचकों) की आलोचना का प्रस्थान बिंदु यही है। 'सामंत का मुंशी' में शिवरानी देवी के एक उद्धरण के बाद धर्मवीर की किताब शुरू ही यहीं से होती है- ''अब मेरे लिए यही मुख्य बात है कि प्रेमचंद कायस्थ थे। भारत के जातीय वातावरण में किसी लेखक की जाति जानने से उसके साहित्य को समझने में काफी मदद मिलती है। सही मूल्यांकन के लिए साहित्यकार की पैदायश जानने से लाभ ही लाभ होते हैं।''[9]

उत्तर संरचनावादी भी अधिक से अधिक पाठ में मौजूद अनुपस्थितियों को समझने पर बल देते हैं। पाठ से स्वतंत्र घटनाओं, पात्रों और प्रसंगों को रचना का न सिर्फ अनिवार्य बल्कि केंद्रीय अंग बना देने का कमाल तो आलोचना के इतिहास में पहली बार डॉ. धर्मवीर ने ही किया है। मजेदार बात यह है कि इसका दोष प्रेमचंद के मत्थे मढ़ दिया जाता है। जैसे ही किसी रचना में उसके अर्थ को परिवर्तित कर देने वाला कोई प्रसंग जोड़ा जाता है, वैसे ही वह एक नई रचना ('प्रक्षिप्त') बन जाती है। इस नए अर्थ की पूरी जिम्मेदारी क्षेपक जोड़ने वाले की होती है, न कि मूल रचनाकार की। इस नई रचना की आलोचना बिलकुल की जा सकती है, लेकिन जिस तरह इस नई रचना के श्रेष्ठ होने पर मूल लेखक सम्मान का पात्र नहीं होता, उसी तरह इसकी निकृष्टता का दंड भी उसे नहीं दिया जा सकता। लगता है कि कबीर साहित्य में प्रक्षिप्त की समस्या से जूझते-जूझते डॉ. धर्मवीर को भी उसके लाभ दिखाई देने लगे हैं और उन्होंने खुद इस हथियार का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है। अगर कबीर की छवि का निर्माण प्रक्षेपों को हटाकर किया जाना चाहिये, तो प्रेमचंद के प्रसंग में उनका स्वागत कैसे किया जा सकता है। सवाल यह भी है कि किसी लेखक को बदनाम करने के लिए उसके साहित्य में प्रक्षेप जोड़ने की इन सचेत कोशिशों को अपराध माना जाना चाहिये या नहीं!

धर्मवीर ने जिस कहानी की आलोचना की है, वह प्रेमचंद की कहानी नहीं है, बल्कि स्वंय धर्मवीर की गढ़ी कहानी है, इसलिए धर्मवीर की आलोचना भी धर्मवीर की अपनी कहानी की ही आलोचना है। धर्मवीर और मैत्रेयी पुष्पा की आलोचना पद्धतियों में अगर अंतर है तो केवल उनके द्वारा निर्मित 'अन्य' का। जहां धर्मवीर के लिए यह 'अन्य' या खलनायक, सवर्ण जमींदार है वहीं मैत्रेयी पुष्पा के लिए यह 'अन्य' पुरुष माधव है। ये दोनों ही अस्मितावादी आलोचना के दो संस्करण मात्र हैं जिन्हें अपने पूर्व निर्धारित लक्ष्य तक पहुंचने के लिए मूल 'पाठ' की ऐसी-तैसी कर देने में कोई हर्ज नजर नहीं आता। प्रसंगवश हमें एक नजर डॉ. धर्मवीर की सर्जनात्मक आलोचना दृष्टि में अंतर्निहित संवेदना पर भी डाल लेनी चाहिए। जिस रूप में धर्मवीर ने इस कहानी को गढ़ा है वह उनकी पितृसत्तात्मक-फासीवादी अपराधिक सोच का उत्कृष्ट प्रमाण है। प्रेमचंद की कहानी में तो घीसू-माधव असंवेदनशील

और हद दर्जे के लापरवाह व्यक्ति दिखाई देते हैं जिनके लिए बुधिया का जीना-मरना कोई खास मायने नहीं रखता; लेकिन डॉ. धर्मवीर की कहानी के घीसू-माधव घिनौने अपराधी हैं। डॉ. धर्मवीर की कहानी के अनुसार बुधिया का जमींदार के लड़के ने बलात्कार किया था, जाहिर है कि बुधिया उत्पीड़ित है और इस घटना में अपराधी जमींदार का लड़का है, लेकिन धर्मवीर की कहानी में उसे कोई सजा नहीं मिलती। धर्मवीर की कहानी में घीसू और माधव सचेत रूप से बुधिया को मरने देते हैं, यानि एक तरह से इरादतन हत्या करते हैं (क्योंकि धर्मवीर का संकल्प है कि 'चाहे बुधिया मरे चाहे ब्रुधिया के पेट का बच्चा मरे', इसलिए यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि अगर वह खुद न मरे तो उसे मार दिया जाएगा)। डॉ. धर्मवीर अपनी कहानी के इन हत्यारे पात्रों के अपराध को 'विद्रोह' का नाम देते हुए उन्हें नायकत्व प्रदान करते हैं और दोहरे उत्पीड़न (बलात्कार तथा हत्या) की शिकार बुधिया के प्रति संवेदना का एक शब्द भी डॉ. धर्मवीर की कलम से नहीं निकलता।

प्रेमचंद पर आरोप केवल एक-दो व्यक्तियों ने नहीं लगाये हैं बल्कि उनके ऊपर सामूहिक और संगठित रूप से आरोपों की बौछार की गई है। डॉ. धर्मवीर की कुंठा भरी 'मौलिक' आलोचनाओं को छोड़ भी दिया जाए तब भी यह सवाल तो बचता ही है कि प्रेमचंद ने दलितों और स्त्रियों पर जो कहानियां लिखी हैं उनमें उनकी संवेदना और दृष्टि क्या रही है। इन सवालों पर सिलसिलेवार गम्भीरता से विचार करने के लिए कुछ मुख्य आरोपों को देखना जरूरी है- 'कफन' के बारे में वरिष्ठ दलित आलोचक कंवल भारती ने लिखा है कि ''यद्यपि इस कहानी से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि प्रेमचंद को दलितों के जीवन से सहानुभूति नहीं थी, परन्तु इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि प्रेमचंद ने इस कहानी में दलित जीवन का माखौल उड़ाया है।"[10] तथा इन्हीं कारणों से 'कफन' ''एक घटिया कहानी ही नहीं है, वह दलित विरोधी भी है...।"[11] दलित आलोचक श्यौराज सिंह बेचैन को कहानी ही नहीं स्वयं प्रेमचंद की नीयत पर भी संदेह है ''प्रेमचंद ने चमारों को इंसानियत से गिरा हुआ साबित करने के लिए इरादतन यह काल्पनिक कथा गढ़ी है। यथार्थ में ऐसे पात्र मिलना सम्भव नहीं... प्रेमचंद को चमारों को नीचा दिखाने के उद्देश्य से ऐसे पात्रों की कल्पना करनी थी जिनके बहाने पूरे दलित वर्ग को गरियाया जा सके।"[12] इस लिहाज से 'कफन' दलित विरोधी, काल्पनिक (अयथार्थवादी) और घटिया कहानी है, जाहिर है इन आलोचकों के लिए ये प्रेमचंद की कथा संवेदना के भी लक्षण हैं। लगे हाथों मैत्रेयी पुष्पा के आरोप पर विचार कर लिया जाए कि ''वे (प्रेमचंद) औरतों को दी गई सामाजिक भूमिका में पारिवारिक कार्यक्षेत्र से पूरी तरह सहमत हैं।"[13] यानि प्रेमचंद स्त्रियों को परिवार तक सीमित रखना चाहते थे तथा परिवार में होने वाले स्त्रियों के उत्पीड़न से उन्हें कोई विशेष आपत्ति न थी।

प्रेमचंद पर आरोप उनके जीवन काल में भी लगे थे 'मोटेरामजी शास्त्री' तथा कुछ अन्य कहानियों के आधार पर उन्हें 'ब्राह्मण द्वेषी' कहकर उनकी भर्त्सना की गई थी। यह हैरानी की बात है कि प्रेमचंद 'ब्राह्मण द्वेषी' हैं, दलित विरोधी हैं और उन्हें स्त्रियों से भी सहानुभूति नहीं है, फिर प्रेमचंद की सहानुभूति किसके साथ है; वे इतने लम्बे समय तक प्रासंगिक रचनाकार क्यूं कर बने रहे! अगर हम इन आरोपों पर गौर करें तो यह रचनाशीलता से आश्चर्यजनक किस्म की मांग है, ब्राह्मण चाहते हैं कि उनकी कहानियों में ब्राह्मणों को नायक बनाया जाए, किसी ब्राह्मण व्यक्ति को खलपात्र के रूप में चित्रित न किया जाए यही बात दलित आलोचक भी चाहते हैं, उनके अनुसार जब भी किसी दलित का चित्रण किया जाए उसे नायकत्व प्रदान किया जाए, साथ ही उसमें विद्रोह भी दिखाया जाए लेकिन जाति सूचक शब्दों का इस्तेमाल न किया जाए। क्या ऐसा करना समाज के यथार्थ को प्रकट करना होगा? क्या किसी दलित पात्र को नकारात्मक रूप में चित्रित कर देने का अर्थ दलित समुदाय का विरोधी हो जाना है? क्या

बिना विद्रोह को दिखाए उत्पीड़न के प्रति अपना विरोध नहीं प्रकट किया जा सकता? फिर यह सारी चीजें छिटपुट ही सही दलित लेखकों की रचनाओं में भी तो आती हैं तब उन्हें दलित विरोधी क्यों नहीं कहा जाता?

असल में रचनाशीलता से इस तरह की मांगें करना ही नाजायज है। उपरोक्त मांगे रचना को अयथार्थपरक बनाने की मांगें हैं। जाति आधारित पदानुक्रम के अनुसार हालांकि संस्थागत रूप से जातियों के अधिकार और कर्तव्य तय हैं, फिर भी व्यक्तिगत रूप से अच्छे या बुरे कर्म करना किसी जाति से निर्धारित नहीं होता, ठीक यही स्थिति 'जेंडर' की भी है; न तो सारे दलित भले होते हैं और न ही सारी स्त्रियां, हालांकि संस्थागत रूप से दोनों ही उत्पीड़ित वर्ग हैं। एडवर्ड सईद की इस मार्मिक चेतावनी को याद रखा जाना चाहिए कि ''मात्र पीड़ित समुदाय की सदस्यता अधिक उन्नत मानवताबोध की अनिवार्य गारण्टी नहीं देती।'[14] उत्पीड़ित वर्ग का हर सदस्य अधिक मानवीय होगा यह समझ एक तरह का सरलीकरण है और रचनाशीलता में यही दिखाए जाने की मांग अस्मितावादी मांग है, जो यथार्थ की जटिलता को छुपाने की मांग भी है। एक अस्मिता के रूप में उत्पीड़ित व्यक्ति (दलित), दूसरी अस्मिता (पुरुष) के रूप में उत्पीड़क भी हो सकता है और 'कफन' कहानी इस जटिलता को अत्यंत मार्मिकता से सामने रखती है।

'कफन' और प्रेमचंद को दलित विरोधी कहने वाले आलोचक दलितों द्वारा लिखी गई रचनाओं पर वही प्रतिमान नहीं लागू कर रहे हैं, जो प्रेमचंद के लिए किये जा रहे हैं। यह नैतिक सापेक्षतावाद है, 'हमारे' समुदाय के लेखक जाति सूचक शब्दों का इस्तेमाल करें, गालियों से अपनी कहानी भर डालें, स्त्रियों के बारे में तरह-तरह की कुंठित कल्पनाएं करें[15] तो वह दलित चेतना है, लेकिन यदि गैर दलित लेखक यथार्थ का संकेत करते हुए 'चमार' शब्द का प्रयोग भर कर दें तो वे दलित विरोधी हो जाएंगे, उनकी रचनाएं फूंक दी जाएंगी! रही बात दलित पात्रों के नकारात्मक चित्रण की, तो इस अंतर्विरोध पर उंगली रखते हुए अनिता भारती ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि ''दलित रचनाकारों को शिकायत है कि 'कफन' कहानी में चमार जाति का उल्लेख कर उन्होंने (प्रेमचंद ने) दलितों को अकर्मण्य, आलसी और निठल्ला साबित कर उन्हें अपमानित और बदनाम किया है। क्या दलित साहित्य में ऐसे पात्र नहीं मिलते? ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'शवयात्रा' में चमार पात्रों की स्वार्थपरकता का वर्णन है। ...प्रेमचंद ने घीसू माधव के अमानवीय होने का कारण फिर भी व्यवस्था को बताया है जबकि ओम प्रकाश जी तो सारा दोष चमारों के सिर मढ़ देते हैं। उनकी इस कहानी को कुछ दलित और कुछ दलित लेखक प्रगतिशील कहानी मानते हैं और दलितों में व्याप्त जाति भेद को उघाड़ने वाले कटु सत्य पर आधारित कहानी मानते हैं ऐसा प्रगतिशील नजरिया 'शवयात्रा' के लिए क्यों? 'कफन' के लिए क्यों नहीं?''[16] जाहिर है सच कहने की सजा के तौर पर ही धर्मवीर ने 'सामंत का मुंशी' में अनिता भारती के ऊपर व्यक्तिगत कटाक्ष किए थे।

साहित्य पर कोई मूल्य निर्णय देने से पहले साहित्य और समाज की प्रकृति की जानकारी होनी चाहिए अन्यथा वह मूल्य निर्णय नहीं फतवेबाजी बन जाता है। साहित्य में पात्र के मूर्त व्यक्तित्व आते हैं, अमूर्त अस्मिताएं मात्र नहीं इस लिहाज से हर पात्र की कुछ न कुछ अस्मिताएं जरूर होती हैं। अच्छा या बुरा हर पात्र किसी न किसी जाति, धर्म, लिंग, राष्ट्र का सदस्य होता ही है; लेकिन जिस तरह समाज में किसी एक व्यक्ति की गलती को आधार बनाकर उसके पूरे समुदाय, जाति, धर्म, लिंग, राष्ट्र को कलंकित और दंडित करना मूर्खता और दुष्टता दोनों ही है, ठीक वैसे ही साहित्य में भी किसी पात्र की निजी गलतियों या अच्छाइयों के आधार पर उसके पूरे समुदाय को कलंकित या सम्मानित करना गलत है। जिस तरह *सेटेनिक वर्सेज* को इस्लाम धर्म की निंदा मानकर सलमान रश्दी के लिए मौत का फतवा सुनाना और *द विंची कोड* को इसाई विरोधी मानना साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है ठीक

उसी तरह 'कफन' को दलित विरोधी मानना भी शुद्ध रूप से अस्मितावादी दृष्टिकोण है, जो पात्रों को व्यक्ति नहीं, सिर्फ अस्मिता के प्रतीकों में बदल देता है। 'कफन' को दलितों को बदनाम करने के लिए गढ़ी गई कहानी कहा जाता है, लेकिन इतनी प्रसिद्धि के बावजूद आज तक किसी ने कफन का सहारा लेकर दलितों को बदनाम किया इसका कोई भी उदाहरण मौजूद नहीं है। कोई रचना ऐसा कर भी नहीं सकती। स्वयं रचना को ताकत और विश्वसनीयता सामाजिक यथार्थ के जरिये ही मिलती है, वह सामाजिक यथार्थ को पैदा नहीं कर सकती। रचना अधिक से अधिक मौजूदा सामाजिक यथार्थ के प्रति पाठकों को संवेदनशील बनाती है, उसकी परिणतियों से आगाह कराती है। स्वयं 'कफन' कहानी भी इस दायित्व का निर्वाह बहुत गम्भीरता से करती है, उसके महत्व और प्रसिद्धि की सबसे बड़ी वजह यही है।

घीसू और माधव निश्चित रूप से चमार हैं लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी खूबियां-खराबियां सभी दलितों की खूबियां-खराबियां हैं। घीसू माधव का चरित्र दलितों को बदनाम करने के लिए नहीं गढ़ा गया है और न ही सभी दलितों के बारे में 'कफन' कहानी में कोई टिप्पणी है इसके ठीक उलट 'कफन' कहानी यह सिद्ध करती है कि सभी दलित एक जैसे नहीं होते, उनमें अगर अत्यंत असंवेदनशील और लोभी लोग हैं तो अत्यंत कर्मठ और त्यागी दलित पात्र भी हैं। 'कफन' को दलित विरोधी कहानी सिद्ध करने की हड़बड़ी में दलित आलोचक यह भूल जाते हैं कि स्वयं बुधिया भी दलित ही है और उसका चरित्र घीसू माधव के ठीक उलट है। बुधिया के बारे में लिखते हुए प्रेमचंद की संवेदनशीलता देखने लायक है ''जब से यह औरत आई थी उसने इस खानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी। पिसाई करके या घास छिलकर वह सेर भर आटे का इन्तजाम कर लेती थी और इन दोनों बे-गैरतों का दोजख भरती रहती थी। जब से वह आई ये दोनों और भी आलसी और आराम-तलब हो गए थे ... वही औरत आज प्रसव वेदना से मर रही थी...।"

आश्चर्य नहीं है कि सामंती-पितृसत्तात्मक व्यवस्था की आलोचना के रूप में इस कहानी को देखने की बजाय धर्मवीर ने स्वयं बुधिया को ही अपराधी की तरह ट्रीट किया है। बुधिया समेत सभी दलित स्त्रियों की उपेक्षा करने एवं शुचिता को स्त्री के जीवन से भी अधिक मूल्यवान मानने वाले पितृसत्तात्मक विमर्श को अधिक से अधिक 'दलित पुरुष विमर्श' कहा जा सकता है, जो सवर्ण पुरुष से मुक्ति की बात तो करता है, लेकिन 'अपनी स्त्रियों' पर वर्चस्व बनाए रखना चाहता है। वर्चस्व की इस राजनीति का विरोध करने की प्रक्रिया में ही दलित स्त्री विमर्श का जन्म हुआ है - जिसे हिंदी आलोचना की उपलब्धि माना जाना चाहिए। विमर्श पर एकाधिकार के टूटने के कारण ही स्वानुभूति और प्रामाणिकता को सबसे बड़ा 'प्रमाण पत्र' मानने वाले कुछ आलोचकों को अब दलित स्त्री लेखिकाओं का खुद अपनी बात कहना नागवार गुजर रहा है। जहां अनिता भारती कहती हैं कि ''दलित लेखिकाओं के लेखन का कलेवर अत्यंत विस्तृत है वह दलित स्त्री के अस्तित्व से लेकर न्यूनतम मजदूरी, शिक्षा, उनके अपने समाज द्वारा हड़पे गए अधिकारों तक को उन्होंने अपने साहित्य का विषय बनाया है। दलित स्त्री की केवल और केवल समस्या यौन शोषण ही तो नहीं है।"[17] वहीं इस संतुलित दृष्टि पर डॉ. धर्मवीर की टिप्पणी है कि ''यदि दलित साहित्यकार केवल इसी एक लड़ाई को लड़ना चाहता है तो भी अनिता भारती को क्या आपत्ति है?.... बताइये, ये दलित महिला दलित महिला के यौन शोषण को कितने हल्के ढंग से ले रही है।''[18] तथा ''सच्चाई यह है कि गैर जातों के पुरुषों द्वारा दलित स्त्रियों का यौन शोषण दलित जातियों की दासता की तीव्रता नापने का बैरोमीटर है। जिस दिन दलित स्त्रियों का गैर-जातों द्वारा यौन शोषण रुक जाएगा, उस दिन यह घोषणा कर दी जाएगी कि अब दलित

जातियां दासता से पूर्णतया मुक्त हो गई हैं।''[19] स्वाभाविक है कि 'कफन' कहानी के प्रति डॉ. धर्मवीर और अनिता भारती का दृष्टिकोण परस्पर विरोधी है।

'कफन' प्रचलित सौंदर्यबोध से अलग एक झकझोर देने वाली कहानी है, जिसमें प्रेमचंद की संवेदना और कला अपनी परिपक्वता तक पहुंची है। इस कहानी की जटिलता इसका सीधा-सादा अर्थ निकालने में बाधाएं तो पैदा करती है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे गलत ढंग से पढ़ा जाए। साहित्य में जीवन के सामान्य और एकरस प्रसंगों का जिक्र नहीं किया जाता बल्कि प्रबल भावावेग, गहरा असर और नैतिक चेतावनी देने के लिए चरम प्रसंगों और चरित्रों का चुनाव किया जाता है, घीसू-माधव तथा बुधिया ऐसे ही बुराई और अच्छाई के दो छोर हैं। आलू खाने की लालच तथा प्रसव पीड़ा से छटपटाते हुए बुधिया का मरना दो भिन्न प्रकृति की अनुभूतियां हैं, जिनका मेल अमानवीय सा लगता है। स्वयं कफन के पैसे से खाना-पीना भी ऐसा ही उदाहरण है, संवेदनहीनता का चरम उदाहरण, हिंदी समाज में मुहावरा ही है 'कफन बेंच कर खा जाना'। प्रेमचंद ने इस चरम उदाहरणों के जरिए दलितों-गरीबों पर होने वाले सामाजिक उत्पीड़न को दिखाया है जिसके परिणामस्वरूप बहुत सारे व्यक्ति संवेदनहीन बन जाते हैं। कुछ लोगों को यह अयथार्थ भी लग सकता है, हालांकि जिनका यथार्थ से गहरा परिचय रहा है ऐसे दलित लेखक यह साक्षी देते हैं कि आज भी गांवों में 'कफन' कहानी से 'बदतर हालत' है।[20]

'कफन' कहानी भारतीय समाज के संस्थागत स्वरूप और उसमें मौजूद स्तरबद्ध संस्थागत उत्पीड़न को रेखांकित करती है। घीसू, माधव गरीब हैं और साथ ही दलित भी इसलिए न सिर्फ वे अभाव भरा जीवन जीते हैं बल्कि उनमें आत्म सम्मान भी नहीं रह गया है, जीवन भर उन्होंने मांगा ही था, कहानी के अंत में जब वे बची हुई पूड़ियों का पत्तल भिखारी को दे देते हैं तब प्रेमचंद ने लिखा है कि उन्होंने 'देने के गौरव, आनंद और उल्लास को जीवन में पहली बार अनुभव किया।' बुधिया चूंकि घीसू और माधव के ही परिवार की है इसलिए गरीब और दलित तो वह भी है लेकिन वह स्त्री भी है इसलिए उसे तिहरा अभिशाप झेलना पड़ता है, उसके कर्तव्य सबके प्रति हैं लेकिन उसकी देखभाल करने की मजबूरी किसी की नहीं।

यह अत्यंत महत्वपूर्ण तथ्य है कि बुधिया के प्रसंग में प्रेमचंद घीसू और माधव की असंवेदनशीलता की घनघोर भर्त्सना करते हैं, लेकिन घीसू और माधव की असंवेदनशीलता की जिम्मेदारी वे दलित समुदाय पर नहीं बल्कि सामाजिक संरचना पर डालते हैं। बिना किसी सैद्धांतिकी की मदद लिए हुए प्रेमचंद अपने अनुभव से घीसू और माधव जैसे व्यक्तियों के भीतर होने वाले 'एलियनेशन' को पहचानते हैं। श्रम जीवन की अभिव्यक्ति है लेकिन जब वह मजदूरी के रूप में मजबूरी बन जाए तो एक पराई वस्तु बन जाता है और क्रमशः मनुष्य से उसकी मनुष्यता को ही छीन लेता है। मार्क्स ने लिखा है कि ऐसा ''मनुष्य अपने को केवल अपने पशु जैसे व्यवहारों में ही- खाने, पीने, प्रजनन करने के, अथवा अधिक से अधिक अपने घर में रहने तथा कपड़े पहनने आदि के कामों में ही अपने को मुक्त रूप से क्रियाशील महसूस करता है और अपने मानवीय व्यापारों में वह एक पशु के अलावा कुछ नहीं अपने को महसूस करता है। जो पाशविक है वह मानवीय बन जाता है और जो मानवीय है वह पाशविक।''[21] ऐसे 'एलियनेट' मनुष्य के लिए उसकी बुनियादी आवश्यकताएं ही चरम आकांक्षा बन जाती हैं तथा उसकी क्षमताएं और उसके संबंधी उस आकांक्षा को पूरा करने का मात्र एक जरिया।

घीसू और माधव हिंदी साहित्य के सर्वाधिक 'एलियनेट' चरित्र हैं, उनकी भूख उनके आत्मीयों को भी खा जाती है। उनके पेट की आग में सारे सामाजिक मूल्य और मर्यादाएं भी स्वाहा हो जाती हैं। इस असंवेदनशीलता से

बचा जा सकता है लेकिन तब उसकी कीमत बुधिया की तरह चुकानी पड़ सकती है। यह कहानी भारतीय समाज के लिए एक नैतिक चेतावनी है अगर उसे घीसू और माधव नहीं पसंद हैं या बुधिया का मरना नहीं पसंद है तो फिर अपने-आप को बदले। घीसू और माधव पशु नहीं इंसान ही हैं, लेकिन 'एलियनेट' इंसान, जिनकी ट्रेजेडी यह है कि वह अपनी मानवीयता भी थोड़ी देर के लिए असावधान होने पर, नशे के दौरान ही वापस पाते हैं। जब वे होश में होते हैं तो उनके काम नशे में किये गए से लगते हैं और जब नशे में होते हैं तो उनकी बातें होश वाले मनुष्य के समान होती है।

प्रेमचंद से और उनकी कहानी से लगभग सत्तर साल दूर हम लोग बहुत कुछ सीख सकते हैं। अपने-आप से, अपने आत्मीयों से और अपने समाज से विच्छिन्न मनुष्य संवेदनहीन होता है, किसी का नहीं होता; सारी मर्यादाएं, मूल्य, दर्शन और बहसें उसके लिए स्वार्थ-साधन का जरिया भर होती हैं। शराब पीने के लिए घीसू और माधव भारतीय समाज की रूढ़ियों की आलोचना करते हैं, बड़े-बड़े दार्शनिक सत्य उच्चारते हैं- ''कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढकने को चिथड़ा भी न मिले उसे मरने पर नया कफन चाहिए'' इत्यादि। 'कफन' को दलित विरोधी करार देने वाले आलोचकों की संवेदना मर चुकी है उन्हें बुधिया की पीड़ा नहीं दिखाई पड़ती, माधव का अपराध बोध नहीं दिखाई पड़ता। उन्हें केवल प्रेमचंद का गैर दलित होना दिखाई पड़ता है। इन विमर्शकारों की भाषा घीसू माधव की भाषा की तरह ही 'एलियनेट' मनुष्य की भाषा है- यथार्थ को न देख सकने वाली, संवेदनाओं की राजनीति करने वाली, अपने को स्थापित करने के लिए मूल्यवान चीजो के विध्वंस से परहेज न करने वाली भाषा! विश्व के क्लासिकी साहित्यकारों का सौभाग्य था कि वे अस्मितावादी राजनीति और आलोचना के उभरने से पहले ही गुजर गए, नहीं तो *मादाम बावेरी* के लेखक फ्लाबेयर स्त्री विरोधी घोषित हो जाते और *अंकल टॉम्स केबिन* की लेखिका हैरियट बीचर स्टो दास-नीग्रो विरोधी घोषित कर दी जातीं क्योंकि इनके नायक जिंदगी भर 'विद्रोह' किये बगैर, हिंसा किये बगैर ट्रैजिक ढंग से खत्म हो जाते हैं।

विवाद और विध्वंस बिकने और स्थापित होने की व्यावसायिक रणनीति के ही हिस्से हैं। प्रेमचंद पर होने वाले हमलों का सबब भी यही है! बदली हुई परिस्थितियों में प्रेमचंद की रचनाओं का ही नहीं पूरे हिंदी साहित्य का पुनर्पाठ और पुनर्मूल्यांकन होना चाहिए, क्योंकि इस प्रक्रिया में ही सार्थक और निरर्थक का चयन सम्भव हो पाता है और कालजयी रचनाएं अपनी प्रासंगिकता प्रमाणित करती हैं। साहित्य में मूर्ति पूजन और मूर्ति भंजन, पुनर्मूल्यांकन नहीं रणनीति है, जबकि पुनर्मूल्यांकन एक ऐतिहासिक दायित्व है और यह दायित्व समाज तथा साहित्य के रिश्ते की संवेदनशील समझ के बिना पूरा नहीं किया जा सकता।

संदर्भ

[1] आर्नल्ड हाउजर, 'कला का इतिहास दर्शन' (हिन्दी अनु.- गोपाल प्रधान), ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2001, पृष्ठ-44

[2] देखें मैनेजर पाण्डेय की टिप्पणी, पल प्रतिपल, संपा. देश निर्मोही, आधार प्रकाशन, हरियाणा जून सितम्बर 2005, पृष्ठ- 74

[3] देखें वीर भारत तलवार का आलेख 'सभ्यता के खिलाफ विद्रोह की कहानी', पल प्रतिपल, पूर्वोक्त पृष्ठ-54

[4] धर्मवीर, 'प्रेमचंदः सामंत का मुंशी', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृष्ठ 17

[5] वही, पृष्ठ 17
[6] मैत्रेयी पुष्पा, 'आप की धनिया', हंस (संपा.- राजेंद्र यादव), 2006
[7] देखें वीरेंद्र यादव का लेख 'प्रेमचंद के निंदक', तद्भव अंक 13
[8] गोपीचंद नारंग, 'संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद एवं प्राच्य काव्यशास्त्र', साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2000, पृष्ठ 130
[9] धर्मवीर, 'प्रेमचंदः सामंत का मुंशी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 13
[10] कंवल भारती, 'दलित साहित्य और प्रेमचंद' (आलेख), 'दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद' (संपा.- सदानंद शाही), प्रेमचंद साहित्य संस्थान, गोरखपुर, 2000, पृष्ठ 89
[11] वही, पृष्ठ 90
[12] श्यौराज सिंह बेचैन, 'दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद का चमार चित्रण' (आलेख), 'दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद' (पूर्वोक्त) में संकलित, पृष्ठ 110
[13] मैत्रेयी पुष्पा, 'आप की धनिया', पूर्वोक्त, पृष्ठ 51
[14] बजरंग बिहारी तिवारी द्वारा उद्धृत कथादेश जनवरी 2003, (संपा.- हरि नारायण), दिल्ली, पृष्ठ 47
[15] विस्तृत अध्ययन के लिए देखें कथादेश जनवरी 2003 में बजरंग बिहारी तिवारी का विचारोत्तेजक आलेख, 'दलित साहित्य विमर्श में स्त्री'
[16] अनिता भारती, 'कफन और दलित स्त्री विमर्श', कृति संस्कृति संधान, (संपा.- सुभाष गताड़े) अप्रैल-दिसम्बर 2003, पृष्ठ 211
[17] धर्मवीर, 'प्रेमचंदः सामंत का मुंशी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 66
[18] वही, पृष्ठ 66
[19] वही, पृष्ठ 71
[20] सूरज पाल चौहान, 'भाषण उनके लिए राशन अपने लिए' (आलेख), कथादेश, जुलाई 2003, पृष्ठ 73
[21] कार्ल मार्क्स, 'अर्थशास्त्र तथा दर्शन सम्बधी 1844 की पांडुलिपियां', (हिंदी अनुवाद- रमेश सिन्हा), इंडिया पब्लिशर, लखनऊ, 1981, पृष्ठ 94

Kavita Nandan Surya
Email- jnukavita@gmail.com
jnukavita@debateonline.in

'शब्दयोग', अंक 15, सितम्बर 2009 में पृष्ठ 76-83 पर प्रकाशित